IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

पूर्व मध्यकाल मे शिक्षा पद्धति : समग्र अवलोकन

शिबू सिंह
डॉ बीरेन्द्र मणि त्रिपाठी
नेहरू ग्राम भारती
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पूर्व मध्यकाल की राजनीतिक अव्यवस्था एवं सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव तत्कालीन शिक्षा प्रणाली पर दिखाई देता है। शिक्षा के उद्देश्यों को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि शिक्षा से विद्यार्थी के बुद्धि का विकास होता है तथा उसमें नीर क्षीर विवेक की क्षमता विकसित होती है। नैतिकता की भावना बलवती होती है तथा दूसरों के प्रति अकारण द्वेष की भावना दूर होती है। दूसरों के प्रति सहानुभूति एवं तर्कसंगत व्यवहार करता है। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी की सभी अंतःशक्तियां का पूर्ण विकास करके उसकी व्यक्तिगत उन्नति करना तथा समाज के लिए उसे अधिक उपयोगी बनाना होता था। इसके साथ चरित्र निर्माण के द्वारा व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में से एक था। प्राचीन काल में भारतीय शिक्षा पद्धति मूलतः दो आधारों पर संगठित थी। विश्वविद्यालय शिक्षा राजकीय संरक्षण में फलीभूत होती थी, जबकि व्यवसायिक शिक्षा का संचालन तत्कालीन श्रेणियों एवं निगमों के माध्यम से संचालित हो रही थी। उच्च शिक्षा के विषयवस्तु धर्म. दर्शन, इतिहास, ज्योतिष, विज्ञान, गणित, चिकित्साशास्त्र, धातु विज्ञान, ललित कला से सम्बन्धित थे। इस प्रकार पूर्वमद्यकाल में शिक्षा का अर्थ केवल धार्मिक शिक्षा ही नही थी, वरन् जीवन के विविध आयामों के विषय में ज्ञान देने वाली विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी।

पूर्व मध्यकाल में नालन्दा, विक्रमशिला एवं बल्लभी विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। व्यवसायिक शिक्षा का संचालन इस काल में निजी प्रयत्नों के द्वारा ही किया जाता था। शिल्प श्रेणी एवं निगम व्यवसायिक क्षेत्र में अनुसंधान, व्यापार, प्रबन्धन एवं उत्पादों के प्रचार प्रसार जैसे कार्यों में संलग्न थे। विभिन्न श्रेणियों के द्वारा अपने छात्रों को हुण्डिका, लेखा जोखा, गणना इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी। इस काल में दस्तकारी, शिल्पकारी, मणिमुक्ता एवं अन्य विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन में गुणात्मक रुप से कमी दिखाई देती है। इसका कारण विदेशी व्यापार में आई अवनति को माना जाता है। इस काल में व्यवसायिक शिक्षा के क्षेत्र में अवनति की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जबकि विश्वविद्यालय शिक्षा राजकीय संरक्षण एवं दान के द्वारा अपनी पूर्वस्थिति में बनी रही।1

इस काल में सामाजिक स्तर के आधार पर शिक्षा की विषय वस्तु का निर्धरण किया जाता था। ब्राह्माणों के लिए वेद वेदांग के अतिरिक्त व्याकरण, तर्कशास्त्र, आयुर्वेद, अथर्वविद्या, वैदिक साहित्य एवं दर्शन जैसे विषयों के अध्ययन का विधान मिलता है। इस काल में काश्मीर के मठों में गौड ब्राह्माणों द्वारा अध्ययन हेतु व्याकरण, तर्क तथा प्रभाकर की मीमांसा पद्धति प्रमुख थी। क्षत्रियों के लिए बौद्धिक प्रशिक्षण के साथ नैतिक अनुशासन तथा दण्ड नीति की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस काल के अनेक क्षत्रिय शासक उच्चकोटि के लेखक एवं कवि के रुप में दिखाई देते है। इनमें हर्षवर्धन, महेन्द्रवर्मन तथ यशोवर्मा का नाम प्रमुख है। राजशेखर राजकुमारों की शिक्षा में धातुवाद तथा रसवाद जैसी रहस्यमयी शिक्षाओं की गणना भी करते है।2 कादम्बरी तथा दशकुमार चरित्र में राजकुमारों को दी जाने वाली शिक्षा का विशद् वर्णन किया गया है।

शिक्षा के क्षेत्र में वैश्यों की स्थिति वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में बहुत अच्छी नही थी। उनको व्यवसायिक शिक्षा दी जाती थी, जिसका संचालन विभिन्न श्रेणियों के द्वारा किया जाता था। मेघातिथि के अनुसार वैश्य वर्ण को माल के गुण दोष, विभिन्न देशों के उत्पादन का ज्ञान तथा पशुपालन के सम्बन्ध में जानकारी होना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त चरित्र निर्माण पर उनकी शिक्षा में बहुत बल दिया जाता था। शूद्रों की शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त होती है। वेदान्त के अनुसार उपनयन के पश्चात ही शिक्षा ग्रहण की जी सकती थी, इस कारण से शूद्र शिक्षा से वंचित हो गए, क्योंकि धार्मिक ग्रंथों में शूद्रों के उपनयन वर्जित था। यद्यपि शंकराचार्य का मत था कि ज्ञान के द्वार किसी के लिए भी खुले है, जो कि उसको ग्रहण करने का इच्छुक है।3

याज्ञवल्क्य स्मृति में उनको विद्या, कर्म तथा धन अर्जित करने के गुणों के योग्य बताया है। कृषि कार्य, पशुपालन, नृत्य एवं संगीत की शिक्षा प्राप्त करने का उनको अधिकार प्राप्त था।

इस काल मे उच्च शिक्षा के लिए सामूहिक संस्थाओं का उदय हुआ। आठवीं शताब्दी में हिन्दू मंदिरों में महाविद्यालय स्तर की शिक्षा का प्रबन्ध होता था। इस काल में दक्षिण भारत में लगभग एक दर्जन महाविद्यालयों का प्रमाण मिलता है, जिसमें निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस काल में नालन्दा विश्वविद्यालय बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, जहॉ पर विश्व के विभिन्न देशों के छात्र शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। पाल शासक देवपाल के शासन काल में नालन्दा को अन्तर्राष्ट्रीय पहचान प्राप्त हुई थी। विश्वविद्यालय का नेतृत्व कुलपति को दिया जाता था। कुलपति की सहायता के लिए शिक्षा सामिति एवं प्रबन्ध समिति का गठन किया गया था। शिक्षा समिति का कार्य छात्रों के प्रवेश, पाठयक्रम का निर्धारण एवं अध्यापकों के पाठय विषय के विभाजन जैसे कार्यों का उत्तरदायित्व दिया जाता था। प्रबन्ध समिति का कार्य सामान्य प्रशासन, भवन निर्माण, आवास, भोजन चिकित्सा एवं आय व्यय की देखरेख करना होता था। नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के तीन भवनों का उल्लेख प्राप्त होता है। रत्नादधि, रत्नसागर तथा रत्नरजंक।4 इस विश्रविद्यालय के लिए विभिन्न शासकों के द्वारा बड़ी संख्या में गॉव अनुदान के रुप में दिए गए थे।

सातवीं शताब्दी में काठियावाड़ का बल्लभी शिक्षा के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रुप में विकसित हुआ था। यहॉ पर चीन, अरब, मध्य एशिया एवं दक्षिण पूर्व एशिया से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। इस विश्वविद्यालय मैत्रक शासकों के द्वारा राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया। इस विश्वविद्यालय में प्रशासनिक संचालन से जुड़े हुए विषयों की शिक्षा प्रमुख रुप से प्रदान की जाती थी। इसके अतिरिक्त धर्मदर्शन, नीतिशास्त्र एवं चिकित्सा से सम्बन्धित विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना पाल शासक धर्मपाल के द्वारा नवीं शताब्दी में किया गया था। इस विश्वविद्यालय के उत्तीर्ण छात्रों को पाल शासकों के द्वारा दीक्षान्त समारोह में पंडित की उपाधि प्रदान की जाती थी। विक्रमशिला से सम्बन्धित छह महाविद्यालयों की स्थापना की गई थी। यह वज्रयान संप्रदाय से सम्बन्धित साहित्य एवं तंत्रवाद के अध्ययन का सबसे बड़ा केन्द्र माना जाता था। सामान्य पाठयक्रमों के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा अर्थशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। यहॉ के अनेक विद्वानों ने तिब्बत में शिक्षा व धर्म का विस्तार किया। इसके अतिरिक्त जगद्दल विश्वविद्यालय की स्थापना पाल शासक रामपाल के द्वारा गंगा नदी के तट पर की गई थी।

वाराणसी इस काल में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रुप में प्रख्यात था। काशी में तीन वेद एवं अठ्ठारह शिल्पों का अध्ययन किया जाता था। इसके अतिरिक्त संगीत की शिक्षा का यह प्रधान केन्द्र था। मिथिला को भी इस काल में शिक्षा के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रुप में देखा जाता था। इस काल में यह न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था। यहॉ विस्तारक की भूमिका निभाने का कार्य गंगेश के द्वारा किया गया था। इसी परम्परा का विकास लक्ष्मणसेन के शासनकाल में नादिरा में हुआ। नादिरा शिक्षा केन्द्र में पुस्तकों एवं व्याख्यान लेखों को अन्य क्षेत्रो में ले जाने की अनुमति नहीं थी।

दक्षिण भारत में मैसूर क्षेत्र में स्थित बेलगॉव शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रुप में मान्य था। यहॉ पर मठ, अग्रहार एवं मंदिर निर्मित किए गए थे, जो कि शिक्षा प्रसार का कार्य कर रहे थे। इसे कदम्ब राजवंश के द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया। यहॉ पर वेद, वेदान्त, मीमांसा, आगम एवं काव्य की शिक्षा दी जाती थी। मालवा के परमार शासक भोज के द्वारा धारा में एक महाविद्यालय की स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण विद्वानों के द्वारा भी मंदिरों, मठों एवं अग्रहारों में शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। मंदिरों में शिक्षा का प्रबन्ध ग्राम सभा के द्वारा किया जाता था। यहॉ मुख्य रुप से दर्शन, तर्क, व्याकरण, राजनीति एवं धर्मशास्त्र से सम्बन्धित विषयों की शिक्षा दी जाती था। आदिगुरु शंकराचार्य के द्वारा मठ शिक्षण संस्थाओं को लोकप्रिय बनाने का कार्य किया गया। शंकराचार्य ने वेदान्त की शिक्षा के लिए बद्रीनाथ में जोशीमठ, द्वारिका में शारदापीठ, पुरी में गोवर्धनमठ तथा मैसूर में श्रृंगेरीमठ की स्थापना की। अग्रहार मुख्य रुप से ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित किए जाते थे। यहॉ पर ब्राह्मणों को करमुक्त भूमि प्रदान कर शिक्षा, नैतिक शिक्षा एवं धर्म के विकास का दायित्व प्रदान किया जाता था।

पश्चिमी भारत में 945 ई० के दानपत्र से ज्ञान होता है कि एक गांव के मुखिया ने विद्यार्थी संघ को पुष्कल भूमि खण्ड दान में दिया तथा उस शाला के अध्यापक के रहने के लिए एक मकान की व्यवस्था की। उस गांव के ब्राह्मणों ने संस्कारों के समय उस शाला के व्यय के लिए पुष्कल धनराशि दान में देने का वचन दिया था। नौवीं शताब्दी में कश्मीर के राजा अवंतिवर्मा ने एक वैष्णव मंदिर की स्थापना की तथा उसमें व्याकरण की शिक्षा देने के लिए एक प्रसिद्ध विद्वान को नियुक्त किया। दसवीं शताब्दी में राजा यशस्कर ने आर्य देश के विद्यार्थियों के लिए एक मठ की स्थापना की। ग्यारहवीं शताब्दी तक कश्मीर के मठ शिक्षा के इतने विख्यात हो गए कि गौड़ देश तक के छात्र यहॉ पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। 1155 ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि मध्यक्षेत्र में राजमाता अल्हणदेवी ने एक मठ तथा शिक्षा प्रसार के लिए एक बड़े भवन का निर्माण करवाया था।

दक्षिणापथ में शिक्षा की व्यवस्था के लिए अनेक व्यक्तियों ने प्रभूत मात्रा में भूमिदान देकर शिक्षा को प्रसारित करने में अपना योगदान दिया। विक्रमादित्य षष्ठ के काल में एक ब्राह्मण ने 104 महाजनों को अपने दान में दी गई भूमि का न्यासी नियुक्त किया था। इस न्यास से अन्तर्गत कुछ भूमिखण्ड एवं मकान की भूमि ऐसे अध्यापकों के निर्वाह के लिए निश्चित की गई थी,जो कि व्याकरण एवं मीमांसा दर्शन की शिक्षा देते थे। इसके साथ ही एक भूमिखण्ड एवं मकान ऐसे अध्यापकों के लिए रखा गया था,जो कि गणित, ज्योतिष, छंदशास्त्र एवं व्याकरण की की शिक्षा प्रदान करते थे। काकतीय राज्य में एक शैव अध्यापक के द्वारा महाविद्यालय सहित एक शैव मंदिर तथा शैव साधुओं को भोजन कराने के लिए कुछ भूमि दान स्वरुप प्रदान किया था। इस महाविद्यालय में तीन अध्यापक वेद पढ़ाने के लिए तथा पांच तर्कशास्त्र, साहित्य तथा आगम पढ़ाने के लिए नियुक्त किए गए थे। यादव राजा सिंधण के राज्यकाल में ज्योतिष के अध्ययन के लिए एक मठ की स्थापना की गई थी।

इस काल में शिक्षा के लिए सर्वाधिक दान सम्बन्धी अभिलेख चोल राज्य से प्राप्त होते है। कांचीपुरम में सिद्धेश्वर मंदिर के पूर्व में एक महाविद्यालय का उल्लेख राजेन्द्र प्रथम के द्वारा किया गया है। राजराज प्रथम के काल में एक व्यक्ति ने कुछ स्वर्ण मुद्रांए दान में देने का प्रमाण मिलता है। इस दान का उद्देश्य इसके ब्याज से वर्ष में एक निश्चित दिन सामवेद का पाठ करने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा देना था। राजेन्द्र चोल के काल में ऐसे २७० विद्यार्थियों के भरण पोषण के लिए जो चारों वेद, कल्पसूत्र तथा व्याकरण का अध्ययन करते थे, उनके लिए धान के उपज का कुछ भाग निश्चित किया गया था। राजाधिराज प्रथम के समय में वैदिक साहित्य के बारह एवं वेदान्त, व्याकरण, रुपावतार, महाभारत, रामायण, मनुस्मृति एवं वैशानस स्मृति के सात सिद्धान्तों के लिए ग्राम सभा ने कुछ भूमि खरीद कर दान में दिया था। इस भूमि की आय से २६० विद्यार्थियो का व्यय चलता है।

चीनी यात्री ह्वेनसांग के द्वारा इस तथ्य को रेखांकित किया गया कि इस काल में ब्राह्मण को बहुत ही महत्व दिया जाता था। संस्कृत सभ्य लोगों की भाषा समझी जाती थी। ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली में चारों वेदों का अध्ययन आवश्यक था। इसके अतिरिक्त व्याकरण, व्यवसायिक शिक्षा, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र, तर्कशास्त्र, धार्मिक शिक्षा इत्यादि शिक्षा की प्रमुख शाखाएँ थी। इस पद्धति में शिक्षा मौखिक होती थी। छात्र शिक्षा को कंठस्थ कर लेते थे।

तथा उसके सार को आत्मसात कर नवीन विचार धाराएँ उनके मस्तिष्क से परिपक्व धारा के रुप में प्रवाहित होते थे। इस काल में छात्र जीवन दीर्घकालिक होता था। नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजीवन अपने आपको शिक्षा के लिए समर्पित कर देते थे। इस काल मे शिक्षा एक आत्महीन यांत्रिक प्रक्रिया नहीं थी, वरन् छात्रों में जिज्ञासा की प्रवृत्ति के प्रस्फुटन की जैविक प्रक्रिया के रुप में थी। इस काल में विभिन्न शासकों के द्वारा विद्वानों को सम्मान देकर शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाता था। इत्सिंग नामक चीनी यात्री ने शिक्षा प्रणाली का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्राथमिक शिक्षा का प्रारम्भ छह वर्ष की अवस्था में होता था। प्रारम्भ में उनकों संख्या, वर्णमाला तथा व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। इसको सिद्धिरस्तु के नाम से जाना जाता था। उसके पश्चात पाणिनी के सूत्र तथा धातु रुप की शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात तीन खिल की शिक्षा दी जाती थी। तदुपरान्त काशिकावृत्ति का अध्ययन छात्रों के द्वारा किया जाता था।

इस काल में शब्दविद्या अर्थात व्याकरण, शिल्पस्थानविद्या अर्थात कला, चिकित्साविद्या अर्थात औषधि शास्त्र , हेतु विद्या अर्थात तर्क आध्यात्मविद्या अर्थात आत्म विषयक शिक्षा प्रमुख थे। चिकित्सा विद्या के आठ विभागों का उल्लेख मिलता है। आन्तरिक तथा वाह्य घाव, ग्रीवा के ऊपर की बीमारी, ग्रीवा के नीचे की बीमारी, प्रेतात्मा के द्वारा प्रदत्त बीमारी, अगद औषधियां जो विष की प्रतिविष थी, बच्चों के सोलह वर्ष की आयु तक की बीमारियां दीर्घायु के उपाय, हाथ तथा पांव सशक्त करने के उपाय। इस काल में चिकित्सा को प्राथमिक शिक्षा का अनिवार्य अंग माना जाता था। इस काल में उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र जिस विषय का अध्ययन करते थे, उसके प्रकांड पंडित होते थे, परन्तु अन्य विषयों के सम्बन्ध में उनको कोई ज्ञान नहीं होता था। ब्राह्मण विद्यार्थी सामान्य रुप से तीस वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करते थे। इस काल में अनेक ऐसे शिक्षकों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है जो देश में घूम-घूम कर शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते थे।

इस प्रकार के विवेचन से स्पष्ट है कि सातवीं से दसवी शताब्दी तक भारत के प्रत्येक भाग में राजा एवं प्रजा दोनों ही के द्वारा शिक्षा प्रसार के लिए अनेक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करते थे तथा उनकों सुचारु रुप से चलाने के लिए पुष्कल धनराशि दान स्वरुप देते थे। जिस समय उत्तर भारत में महमूद गजनवी के आक्रमण हुए तो उत्तर भारत में बहुत से शिक्षण केन्द्र नष्ट हो गए, परन्तु दक्षिणापथ एंव सुदूर दक्षिण में ये परम्परा बारहवीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित रही। भारतीय शिक्षण व्यवस्था में प्रत्येक विद्यार्थी के शारीरिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता था। गुरु के पूर्ण अनुशासन में रहकर सादगी के साथ जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इसके साथ ही नैतिक नियमों का पालन करते हुए पूर्ण बैद्धिक स्वतंत्रता के साथ जीवन यापन करना होता था। इस काल में जो शिक्षा संस्थाएं स्थापित की गई, वे नगरों से दूर आश्रमों में स्थित थी, जिनमें सदैव उच्च आदर्शों का अनुसरण करने की शिक्षा दी जाती थी। उच्च शिक्षा प्राप्त प्रखर बुद्धि विद्यार्थी छोटी कक्षाओं को पढ़ा कर शिक्षा देने का अभीष्ट प्रशिक्षण प्राप्त कर लेते थे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 बृज नारायण शर्मा, सोशल लाइफ इन नार्दर्न इंड़िया, मुंशीराम मनोहरलाल नई दिल्ली 1966 पृ० सं० 85 2 डॉ० सुष्मिता पांडेय, समाज, आर्थिक व्यवस्था एवं धर्म, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, 1991, पृ० सं० 186
3 नीरज श्रीवास्तव, मध्यकालीन भारत प्रशासन समाज एवं संस्कृति, ब्लैकस्वॉन, हैदराबाद, द्वितीय संस्करण, 2010, पृ० सं० 17
4 इम्त्याज अहमद, मध्कालीन भारत एक सर्वेक्षण, नेशनल पब्लिकेशन्स, पटना, छठा संस्करण, 2016, पृ० सं० 45
5 ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, विश्व प्रकाशन न्यू दिल्ली पंचम संस्करण, 2001 पृ० सं० 330
6 नीलकंठ शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966, पृ० स० 190

7 डा० कैलाश चन्द्र जैन, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, मध्य प्रदेश हिन्दी अकादमी ग्रंथ, भोपाल, 1987, पृ० स० 33
8 ए० एल० बाशम, अद्भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा, पृ० स० 125
9 दशकुमारचरित, दण्डी एम० आर० काले (सं०) 1917, पृ० 164
10 डॉ० सुष्मिता पांडेय, समाज आर्थिक व्यवस्था एवं धर्म, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ आकदमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, 1991, पृ० सं० 188
11 ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, विश्व प्रकाशन, न्यू दिल्ली पंचम संस्करण, 2001 पृ० सं० 332
12 टी० वाटर्स, आन युआन चुआंग्स ट्रेवल्स इन इंडिया, प्रथम भारतीय पुनर्मद्रण दिल्ली, 1961, पृ० सं० 176
13 नीलकंठ शास्त्री , ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966, पृ० स० 192